गांव-गिरांव

रामजी यादव

गाँव-गिरांव

एक

सयोग ही कुछ ऐसा था कि हम एक ही गाँव में पैदा हुए और कुछ दिन साथ में पढ़े भी थे और बरसों बाद आज मिल रहे थे। किसी को पता नहीं था कि हम यू मिलेंगे लेकिन मिल गए और वह भी एकदम एक ही डिब्बे में और एकदम ऊपर नीचे की सीट पर। मैं ट्रेन छूटने के मौके पर उसे धर पाया। डिब्बे में भीड़ तो थी लेकिन इतनी नहीं कि एक-दूसरे से बदन रगड़ जाए। फिर भी दो लोग बुरी तरह लड़ रहे थे और अँग्रेजी में अपने पद और रिश्तेदारों की पहुँच का खुलासा कर रहे थे। मुझे भारतीय रेलों की यह कुकुर-झौं-झौं कभी नहीं सुहाती। यह उजड्डपन बता देता है कि लड़नेवाले कितने बेचारे हैं।

मेरी सीट ९ नबर की थी। मेरा अधिकार खिड़की के पास था लेकिन खिड़की के पास गोल-मटोल-से एक चश्माधारी बैठे थे। मैंने कोई दावा नहीं जताया। अपना सामान नीचे सरकाकर

बैठ गया। खिड़की वाले सज्जन कुछ कसमसाए और मैंने महसूस किया कि वे बीच में सरकना चाहते हैं तो मुझे खुशी हुई लेकिन उनको यह बताना अशोभन लगा कि वे जहा बैठे हैं वह मेरी सीट है। फिर भी उनकी भलमनसाहत कि वे उठ खड़े हुए और बोले—'आओ, आप आ जाओ।'

अचानक उन्होंने मुझे ध्यान से देखा और धीरे से बोले—'दिनकर .....!'

मैं चौंक पड़ा। कौन हो सकता है? मैंने उनको ध्यान से देखा। भरे हुए गालों के बावजूद उभरी हुई हड्डियों से स्मृति कौंधी। साँवले शरीर वाले इन सज्जन का माथा चौड़ा और आगे को निकला हुआ था। आखें कुछ भेंगी थीं गोया छट्ठी का दीया देख गयी हों। इसके बावजूद आँखों ने परिचय पा लिया—'अरे जियालाल र ...आ .....।' हमने मिलाने को हथेलियाँ बढाई लेकिन खुद एक दूसरे से लिपट गए—'अरे तुम कहाँ यार .... बनारस या कानपुर ...?'

'बनारस जा रहा हूँ भाई। कानपुर काहें जाऊगा।' उन्होंने कहा—'गाँव में परसों प्रधानी का चुनाव है न! तुम कहाँ?'

'चलो तब तो यात्रा बढ़िया हुई। मैं भी उसी तीर्थ को जा रहा हूँ।'

'अच्छा, अरे वाह! तो क्या .....'

'हाँ मैं भी वोट देने के लिए ही मगाया जा रहा हूँ। सुनते हैं इस बार प्रधानी का चुनाव बड़े काटे का है। कई लोग अपनी जीत के लिए चढ़ा-ऊपरी किए हैं और फैसले के लिए एक वोट भी सौ के बराबर है।' मैंने वे सारी बातें कह सुनाई जो मेरे भाई ने आने की ताकीद करते हुए बताई थी।

'हूँ ...' जियालाल ने हुकारी भरते हुए कहा—'मुझे भी तिखारा गया है कि चाहे सौ अकाज हो लेकिन एक दिन के लिए आना ही पड़ेगा। सजोग से अबहीं इतने साल हो गए बाकी राशन कार्ड और वोटर आई डी गाँव ही में है यहाँ दो वोट आ गए हैं लेकिन बच्चों के स्कूल के कारण एक वोट का कोई उपयोग नहीं हो पाएगा। तुम्हारा भी वोट तो अभी गाँव ही में होगा न?'

'नाम तो है लिस्ट में लेकिन कार्ड नहीं है।भाई ने कहा कि उतने से काम चल जाएगा।' मैंने कहा।

जियालाल रग-ढग से एकदम शहरी हो गए थे और डी डी ए में नौकरी करते हुए दिल्ली में अपना घर भी बनवा लिए थे। बहुत कुछ बदल चुका था। लेकिन स्मृतियों में कुछ बातें थीं जो अभी भी वैसी ही थीं। एक समय था जब हम

साथ पढ़ा करते थे। चमाँव में उस जमाने में पच्छू (पश्चिम) पोखरी पर एक कन्या पाठशाला हुआ करती थी जिसका खडहर अभी भी मिल सकता है। चमाँव की सरचना के हिसाब से पच्छू पोखरी ठकुरान, बभान और ललान के करीब थी और अहिरान, कोइरान आदि की बसाहटें उनकी काश्तों के हिसाब से छितराई हुई थीं। लेकिन खेती-किसानी, मजदूरी करने वालों तक न शिक्षा का महत्व पहुँच पाया था और न ही उनकी लड़कियों के पढ़ने का कोई अदेशा था इसलिए कन्या पाठशाला पच्छू पोखरी पर ही खुला क्योंकि इसी में ठकुरान, बभान और ललान की लड़कियों को लाभ था कि फट्ट से पढ़ाई की और खट्ट से घर आ गईं।

कई दर्जन वर्गमील में फैले चमाँव में सार्वजनिक महत्व की जगहों में कन्या पाठशाला के अलावा केवल गुलामी कुआँ, गोलधमक्का, कुटिया, शेखान, छावनी और पचायत भवन था। गोलधमक्का और कुटिया पर एक-एक कुए थे और सुदूर भूतकाल में कुछेक औरतों की आत्महत्या के सफल-असफल प्रयासों के अलावा वे प्राय: घटनाविहीन और पानी से भरे हुए थे और पेयजल प्रदान करते थे। वे अत्यत चौड़े और गहरे थे और पत्थर से बाधे गए थे। उनका पानी निर्मल और ठडा था और झाँकने पर डर लगता था। बाकी चीजें अपना अस्तित्व खो चुकी थीं। गुलामी कुआँ पर किसी समय पुरवट चला करता था लेकिन बाद में लोगों ने उसकी पौदर काट कर खेत में मिला लिया और अपनी जरूरत न देखकर कुए का पानी भी सूख गया। पचायत भवन की धरनें सड़ चुकी थीं और उसकी जमीन उसके अगल-बगल रहने वालों के दुआर में मिलने वाली थी।

इन सबके बारे में दतकथाए और दताभिव्यक्तिकर्ता इतने कम थे कि किसी को कभी कुछ जानने की ज़रूरत भी नहीं महसूस होती थी। इतने बड़े गाँव में सार्वजनिक महत्व की इतनी कम चीजों के होने से साफ पता चलता है कि यह किसी निठल्ले की जमींदारी रहा होगा। किसी ज़हूर मिया के बारे में पुराने लोग एक किस्सा बताते थे कि उन्होंने एक बार किसी हज्जाम को बीस बीघे की काश्त केवल इसलिए दे दी क्योंकि जब वे गहरी नींद में सो रहे थे तो उसने उनकी दाढ़ी बना डाली। मूछ तराश दी और हाथ-पैरों के नाखून काट डाला। मियाजी उठे तो आईना देखकर बड़े खुश हुए।

देहाती लोग शरीफा को सलीफ़ा और शगुन को सगुन कहते हुए पीढ़ियों तक देहाती बने रहते हैं। इस परपरा को कायम रखते हुए उन्होंने शेखान को सेखान बना दिया। ज़हूर मिया के इस सबूत के अलावा चमाँव के एक मौज़ा शहाबुद्दीनपुर को भी ऐसे लोगों ने सुविधानुसार सबहदीपुर के रूप में अमर कर डाला।

जब आधुनिकता की एक निशानी के रूप में कन्या पाठशाला का आगमन हुआ तो उन्हीं लोगों के पड़ोस में उसे स्थापित किया गया जो करते तो कुछ नहीं थे लेकिन कहते बहुत कुछ थे। वे सेखान और सबहदीपुर वालों पर हँसते और बने-बनाए शेखान और शहाबुद्दीनपुर से होते हुए इतिहास की यात्रा कर डालते।

सन १९७०-७५ के आस-पास कन्या पाठशाला में चमाँव भर से लड़के भी आकर पढ़ने लगे। बहिनजी लोगों की फजीहत शुरू हो गयी। पढ़ाना तो दूर दिन भर लड़कों को पीटना भी कष्टप्रद हो गया। वह समय ही गज़ब था। लगता जैसे लड़के-लड़कियों की नदी उफान पर हो। काश्तकारों ने दस्तखत करने और हिसाब लगाने भर पढ़ने के लिए बच्चों को प्रेरित किया। नकदी का चलन बढ़ रहा था और भारत माता को आज़ादी नामक जो चादर ओढ़ाई गयी थी वह तब तक उद्धक और भदमैली हो चुकी थी। लगने लगा था कि अब माताजी के आगे-पीछे कोई नहीं है और जो उनके बारे में बातें करते वे हद दर्जे के लबार, लुटेरे, गिरहकट, बेईमान और चालू थे। माताजी बिलकुल निखेवा हो गयी थीं

गाँवों में चकबदी आ गयी। चकों में हेर-फेर और मालियत में गड़बड़ी का दौर शुरू हुआ। अक्सर चक-उड़ान की प्रविधि से बरसों पुराना कीमती चक उड़ाकर किसी तालाब में डाल दिया जाता। चक परे के नाम पर किसी की छः बिस्सा जमीन रातो-रात दस बीघे में फैल जाती। उसका तालाब के किनारे वाला अथवा सिवान का चक उड़ाकर गोंइड़ में ला दिया जाता और बाकी लोगों की जमीनें वहाँ से उड़ जातीं। सीधा सिद्धान्त था—पैसा दो या तो मुकदमा लड़ो। लोग चक्कर खा जाते क्योंकि वे जानते थे एक बार तहसील-कचहरी में घुसे तो जीवन भर नहीं निकल पाएगे। इधर कुआ तो उधर खाई। इधर लेखपाल तो उधर पेशकार। इन्हीं दैत्यों ने स्कूल को ऐसी गुफा बना दिया जहा छिपा जा सकता था। आखिर कितने दिन इनको साहब नमस्कार करते और नगाझोरी

देकर रिरियाते। मौजू था कि बच्चों को पढ़ने भेजते। और आखिर उन्होंने बच्चों को कन्या पाठशाला भेज दिया।

लेकिन वे सभी स्वप्नदर्शी माँ-बाप नहीं थे। वे यथार्थ के मारे थे और उनकी आँखें पथरा गयी थीं। कचहरी में वे पेशकार से बड़े साहब को जानते ही न थे। चाहे कितना भी बढ़िया कपड़ा हो सभी में उन्हें पेशकार ही दिखते क्योंकि वे उनसे चाय-पान के खर्चे के अलावा बच्चों की जलेबी तक का पैसा वसूल लेते। यह क्रम बरसों चलता। बेचारों ने हाकिम को तो देखा तक नहीं। मातहत के भी मातहत को देखकर डर जाते थे। फिर वे कैसे सपने देखते। इसलिए उनका मानना था कि लड़के चार अच्छर पढ़ जाए तो लेखपाल या पेशकार तो बन ही जाएगे। पढ़ाई पर ज़ोर था लेकिन उतना नहीं जितना अपने बच्चों को चलता-पुर्जा और गिरहकट बनाने पर था। जो इसमें जितना होशियार वह उतना ही दुलरुआ। मेरी माँ अक्सर मुझे गाली देते हुए कहती—'नान्ह-नान्ह लड़के काठ फोड़ रहे हैं बाकी तू रहा बकलोल का बकलोल, निबहुरा!' अक्सर मेरे काम में खोट निकल आती। मैं रोटी पा जाता था लेकिन था लतमरुआ। मेरे माँ-बाप ने मुझे लेकर क्या सपना देखा था मुझे एकदम नहीं मालूम।

लेकिन कन्या पाठशाला में भीड़ चँपी तो हाहाकार मच गया। वह उम्र ही ऐसी थी, लड़कियों के कोमल स्वभाव लड़कों की समझ से बाहर थे। लड़के जनम के उजड्ड थे और लड़किया कर्कशा थीं। जरा सा आँय-बाँय हुआ नहीं कि स्त्रियोचित गालिया देतीं और उससे भी मन न भरता तो बहन जी से शिकायत करने चली जातीं। बहिन जी लोग वैसे ही सासत में होतीं। कह देतीं कि अपने घर जाकर शिकायत करो। लड़किया कन्या पाठशाला को अपनी बपौती समझती थीं और लड़कों को ऐसे देखतीं गोया वे काबुल के गधे हों। लड़के भी कहाँ कम थे। उनमें लिग-भेद का कोई अहसास था ही नहीं। गुस्से में उठते और किसी लड़की की बाह मरोड़कर दो मुक्का मारते और लड़कियाँ छौंछियाकर अपनी पट्टी से उनपर भरपूर वार करतीं। हर व्यवहार में बाकायदा लागी-लागा था। सौन्दर्यबोध नाम की कोई चीज नहीं थी और लड़के उन्हें नकचुअनी और खटमुतनी कहकर खुदक निकालते। इन सबके चलते कन्या पाठशाला अरराकर

बैठ गई। फलस्वरूप लड़कों को वहाँ से हटना पड़ा और तरना बाज़ार वर्मा लाला की छत पर स्कूल खुला।

यहीं पर जियालाल पहली बार ध्यान में आए। कक्षा दो की बात है। किसी बात पर कन्हैया पटेल ने उन्हें पीट दिया था। हमारे स्कूल में एक अध्यापक तीन-तीन कक्षा सभालते थे। सुबह अलग-अलग और शाम को एक में। सुबह का समय था। मास्टर साहब ने ताकीद कर रखा था कि सब लोग गिनती याद करें लेकिन हम लोग कविता पढ़ने में मगन थे—'हठ कर बैठा चाँद एक दिन, माता से यह बोला। सिलवा दे माँ मुझे ऊन का, मोटा एक झिगोला .....'

अचानक किसी की पीठ बज उठी। हम सभी सन्नाटे में आ गए और भाषा की किताब झोले में ठूँसकर गणित की कॉपी निकाल गिनती याद करने लगे—'नब्बे एक्यानबे नौ दहाई एक एकाई ... नब्बे दू बानबे....'

लेकिन हमको जल्दी ही पता चला कि मास्टर साहब नहीं थे। जियालाल की बड़की माई थीं। कन्हैया को पीट कर वे ज़ोर-ज़ोर से धमका रही थीं—'निबहुरू, अब छूए गदेला को तो समझ लेना। तोड़कर चूल्हे में लगा दूँगी।'

कन्हैया की सिट्टी-पिट्टी गुम थी और वे नज़र नहीं उठा पा रहे थे। कन्या पाठशाला में घर शिकायत करने की बात के बाद यह आउटसोर्सिंग का पहला मामला था जिससे सरकारी स्कूल की लाचारी का प्रमाण मिलता है।

उसके बाद जियालाल को किसी ने कभी नहीं छुआ लेकिन खुदक तो बनी ही रही। जियालाल कई मामलों में आगे थे। इसलिए लड़के उनकी हर उपलब्धि पर ज़ोर से चिल्लाते—'जियालाल राम'

सबको पता था कि जियालाल चमार जाति के थे। इसलिए जब वे चिल्लाते—'जियालाल राम' तो उन्हें लगता वे जियालाल को जूते मार रहे हैं।

बरसों बाद एक दिन जियालाल मेरे पास आए। तब हम साइकिल से इटर कालेज जाया करते थे। हाइस्कूल का जमाना था। जियालाल ने मुझसे कहा—'मैंने बोर्ड के फार्म में अपना नाम जियालाल गौतम लिखवाया है। अब तुम मुझे गौतम कह सकते हो।'

'आँय ! अच्छा .... राम क्यों हटवाए।' मैंने अचरज से कहा।